Multidisciplinary International Magazine
(Peer-Reviewed)
ISSN: 2454-2725, Impact Factor: GIF 1.888
www.jankriti.com
Volume 6, Issue 68, December 2020

JANKRITI जनकृति

बहु-विषयक अंतरराष्ट्रीय पत्रिका
(विशेषज्ञ समीक्षित)
ISSN: 2454-2725, Impact Factor: GIF 1.888
www.jankriti.com
वर्ष 6, अंक 68, दिसंबर 2020

दलित लोकजीवन का सौंदर्य प्रतीक 'मुर्दहिया'

डॉ.राजेन्द्र परमार
असिस्टंट प्रोफेसर
हिंदी विभाग,
गुजरात विश्वविद्यालय,
अहमदाबाद
मो. 9723527487
ईमेल : rrparmar@gujaratuniversity.ac.in

सारांश :

उत्तर आधुनिक दौर के साहित्य में विशेष रूप से हिंदी साहित्य में विमर्शों का दौर चल रहा है। आज साहित्य विमर्श केंद्रित होता जा रहा है। इन विमर्श कालीन साहित्य को देखने, समझने और पढ़ने की दृष्टि में काफी बदलाव आया है, दूसरे शब्दों में कहें तो हमारी सोच अपने सीमित घेरे को तोड़कर विकसित होती जा रही है। 21 वीं शताब्दी विमर्शों की शताब्दी है, ऐसा कहने में अतिशयोक्ति नहीं होगी, क्योंकि वर्तमान में साहित्य में नारी विमर्श, दलित विमर्श, बाल विमर्श, किन्नर विमर्श, वृद्ध विमर्श अधिक चर्चा में है। इन विमर्शों के काल में दलित विमर्श ने हिंदी साहित्य में अपनी विशिष्ट पहचान स्थापित की है। दलित साहित्य का आरंभ ही दलित आत्मकथाओं से हुआ है। तुलसीराम ने 'मुर्दहिया' में अपने वैयक्तिक जीवन की पीड़ा, दुख, दर्द के साथ-साथ लोकजीवन में व्याप्त अंधश्रद्धा, अपशकुन, देवी देवता, भूत-प्रेत का जीवंत वर्णन किया है। दलित लोकजीवन का सौंदर्य 'मुर्दहिया' में साकार हो उठा है। इसलिए दलित आत्मकथाओं में तुलसीराम कृत 'मुर्दहिया' विशिष्ट स्थान रखती है।

बीज शब्द : *दलित, आत्मकथा, लोकजीवन, मुर्दहिया, सौंदर्य*

प्रस्तावना :

हिंदी में जितनी भी दलित आत्मकथाएँ प्रकाशित हुई है, उनमें 'मुर्दहिया' की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें एक छोटे से धरमपुर गाँव में स्थित दलित लोकजीवन का गहरा परिचय करवाया गया है। आत्मकथा का शीर्षक 'मुर्दहिया' स्थान का बोध कराता है। मुर्दहिया का अर्थ - स्मशान होता है, जहाँ लाशों को जलाया जाता है । इस स्थान के संदर्भ में आत्मकथाकार तुलसीराम भूमिका में लिखते हैं- "मुर्दहिया हमारे गाँव धरमपुर (आजमगढ़) की बहुउद्देशीय कर्मस्थली थी। चरवाही से लेकर हरवाही तक के सारे रास्ते वहीं से गुजरते थे। इतना ही नहीं, स्कूल हो या दुकान, बाज़ार हो या मंदिर यहाँ तक की मजदूरी के लिए कलकत्ता वाली रेलगाड़ी पकड़ना हो, तो भी मुर्दहिया से ही गुजरना पड़ता था। हमारी दलित बस्ती के अनगिनत दलित हजारों दु:ख-दर्द अपने अंदर लिए मुर्दहिया में दफन हो गए थे।"[1]

इस आत्मकथा में दलित लोकजीवन जीवंत हो उठा है। धरमपुर गाँव का दलित लोक जीवन अपने आप में सर्वांगपूर्ण रूप से प्रस्तुत हुआ है क्योंकि इस आत्मकथा के केन्द्र में व्यकित के साथ लोकजीवन का चित्रण है। लेखक ने स्वयं भूमिका में लिखा है-"जमाना चाहे जो भी हो, मेरे जैसा कोई अदना जब भी पैदा होता है, वह अपने इर्द-गिर्द घूमते लोक-जीवन का हिस्सा बन ही जाता है। यही कारण था कि लोकजीवन हमेशा मेरा पीछा करता रहा। परिणामस्वरूप मेरे घर से भागने के बाद जब मुर्दहिया का प्रथम खण्ड़ समाप्त हो जाता है तो गाँव के हर किसी के मुख से निकले पहले शब्द से तुकबंदी बनाकर गानेवाले जोगी बाबा, लक्कड़ ध्वनि पर नृत्यकला बिखेरती नटिनिया, गिद्ध प्रेमी पग्गल बाबा तथा सिंघा बजाता बंकिया डोम आदि जैसे जिंदा लोक-पात्र हमेशा के लिए गायब होकर मुझे बड़ा दुख पहुँचाते हैं।"[2] जैसा की ऊपर उल्लेख किया गया है, यहाँ लेखक केन्द्र में नहीं है, केन्द्र में है दलित जीवन, उनकी अंधश्रद्धाएँ, कर्मकांड़, भूतों के प्रति भय, सवर्णों का जीवन, पूजापाठ, त्योहार, गाँव की दरिद्रता, दलितों का संघर्ष, आपसी होड़, लोकगीत, गाँव में वसे कुछ विक्षिप्त परंतु विलक्षण ऐसे, शिक्षा की घोर अवहेलना आदि सब इसमें चित्रित किया गया है।

'मुर्दहिया' आत्मकथा का आरंभ लेखक ने अपने ऊपर व्यंग्य करते हुए किया है- "मुर्खता मेरी जन्मजात विरासत थी। मानव जाति का पहला व्यक्ति जो जैविक रूप से मेरा खानदानी पूर्वज था उसके और मेरे बीच न जाने कितने पैदा हुए, किन्तु उनमें से कोई भी पढ़ा-लिखा नहीं था।"[3] इस अशिक्षा का नतीजा यह निकला कि मुर्खता और मुर्खता के चलते उनका परिवार अंधश्रद्धा और अंधविश्वास से कभी मुक्त नहीं हो सका। सिर्फ उनका परिवार ही नहीं पूरा समाज अंधकार युग में जी रहा था। ऐसे परिवेश में बालक तुलसीराम का जन्म होता है, जहाँ था तो सिर्फ अंधविश्वास, रोशनी का दूर-दूर तक पता नहीं था। जहाँ ज्ञान नहीं होता है, वहाँ अंधकार होता है और जहाँ अंधकार होगा, वहाँ अंधविश्वास तो होगा ही। लेखके दादाजी को भूत ने लाठियों से पिट-पिटकर मार डाला था, यह बात यह बात तुलसीराम अपने जन्म के अनेक वर्ष बीत जाने के बाद भी समझ न सके। इस हत्या की गुत्थी एक उलजी हुई पहेली थी। इसका असर यह हुआ कि- "इस भूतही प्रक्रिया ने मेरे खानदान के हर व्यक्ति को घनघोर अंधविश्वास के गर्त में डाल दिया। परिणामस्वरूप घर में भूत बाबा की पूजा शुरू हो गई। घर में ओझाओं का बोलबाला हो गया। किसी को सिर दर्द होते ही ओझैती-सोखैती शुरू हो जाती थी। ऐसे भूतहे वातावरण में किसी शिशु का जन्म आजमगढ़ जिले के धरमपुर नामक गाँव में 1 जुलाई,1949 को हुआ तो उसकी विरासत क्या होगी?"[4] मुर्दहिया दलित लोकजीवन का सौंदर्य प्रतीक है। लोकजीवन में व्याप्त श्रद्धा-अंधश्रद्धा, शुभ-अपशकुन, भूत-प्रेत, देवी-देवता, सत्य-असत्य का बड़ी जीवटता के साथ सूक्ष्म आलेखन हुआ है। बीमार पड़ने पर लोग डॉक्टर का इलाज नहीं कराना चाहते थे, बल्कि झाड़-फूंक के द्वारा बीमार को ठीक कराने का यत्न करते थे। तुलसीराम को तीन साल की आयु में चेचक की बीमारी हो गई थी, किंतु घर वाले उनका इलाज़ इसलिए नहीं करवाते क्योंकि उनकी आस्था डॉक्टर से अधिक अंधश्रद्धा में अधिक थी। लेखक के शब्दों में-"मेरे ऊपर चेचक का प्रकोप इतना जबरर्दस्त था कि जीवित रहने की उम्मीद घर वाले लगभग छोड़ चुके थे। उपरोक्त देवी-देवताओं की मनौती के अलावा कोई चिकित्सकीय इलाज़ किसी भी तरह संभव नहीं था. क्योंकि घर वालेघोर अंधविश्वास के कारण दवा लेने से हठ के साथ इनकार कर देते थे। वैसे भी उन दिनों चेचक लाइलाज़ बीमारी थी। घरवाले इसे शीतला माई का प्रकोपसमझते थे। पास के गाँव से एक ओझा आता और कभी भी स्पष्ट न होने वाले कथित मंत्रों

को बड़बड़ाते तथा लौंग तोड़ते हुए झाड़-फूँक करता था।"[5] इस अंधविश्वास का फल यह मिला कि लेखक की जान तो बच गई लेकिन उनकी दाई आँख की रोशनी हमेशा के लिए विलुप्त हो जाती है। अंधविश्वास में जकड़े हुए समाज में ऐसे व्यक्ति को हमेशा के लिए 'अशुभ' की श्रेणी में सूचीबद्ध कर जाता है।

आँख की रोशनी चली जाने के कारण लेखक तुलसीराम को परिवार और समाज से 'कनवा' की उपाधि दे दी जाती है। गाँव में उनके अलावा दो और लोग भी अपशकुन की श्रेणी में आते थे- एक थे अस्सी वर्ष के बूढ़े ब्राह्मण जंगू पांडे और एक अन्य बुढ़िया ब्राह्मणी। ये तीनों जन बिना किसी कारण घर-परिवार, समाज में अपमानित होते रहते थे। गाँव में अंधविश्वास और अपशकुन इस हद तक व्याप्त था कि ये लोग सामने मिल जाते तो लोग घर वापस आ जाते। तुलसीराम इस संदर्भ में एक घटना को याद करते हुए लिखते हैं- "इस संदर्भ में एक महत्वपूर्ण घटना याद आने पर आज भी दु:ख की अनुभूति होती है। मेरे घर के पास एक आम के पेड़ में खूब बौर आए थे। अचानक जंगू पांडे आकर आम के बौरों को देखने लगे क्योंकि बौर बहुत अच्छे लग रहे थे। मेरे घर वालों ने कहना शुरू कर दिया कि जंगू पांडे की नज़र लग गई। अब फल नहीं आएंगे। जबकि बाद में खूब फल आए। इसी तरह गाँव की एक अन्य बुढ़िया ब्राह्मणी थी, जिसका नाम किसी को मालूम नहीं था। वह सिर्फ पंडिताइन के रूप में जानी जाती थी। पंडिताइन निर्वंश विधवा थी। उन्हें भी लोग देखना पसंद नहीं करते थे। गाँव भर के लोगों का कहना था कि पंडिताइन का सामना हो जाने से किसी काम में सफलता नहीं मिलेगी।"[6]

'मुर्दहिया' में तुलसीराम ने अपने गाँव धरमपुर के आस-पास के गाँवों का, साथ ही विभिन्न व्यवसाय से जुड़े लोगों का जीवंत आलेखन किया है, जिनमें नाई है, धोबी है, पारुपुर के मुसहर है। अपार सौंदर्यवाली नटिनियों के साथ रहने वाला एक नट परिवार भी है। ओझा-सोखा करने वाले लोगों को चमत्कार के बहाने अपना शिकार बना लेते हैं, यहाँ अफवाहे हैं, हर जगह अंधविश्वास का बोलबाला है तो श्रम-सौंदर्य के गीत भी है। यहाँ बरगद, पीपल और पलाश जैसे हजारों पेड़ों की हरियाली है, फूलों का प्राकृतिक सौंदर्य है, लेकिन उन पेड़ों को अपना बसेरा बनाए तरह-तरह के भूत-प्रेत हैं, ये सब आत्मकथा को जीवंत बना देते हैं। जयप्रकाश कर्दम का कहना उचित ही है कि "तुलसीराम की आत्मकथा की यह एक बड़ी विशेषता है कि इसमें केवल आत्मकथाकार का जीवन और उसके निजी अनुभव ही नहीं है, अपितु उसमें लोक साथ-साथ चलता है। ..... विशेष रूप से 'मुर्दिहया' में गाँव में रहने वाले अशिक्षित दलित समाज में अज्ञानतावश फैले अंधविश्वासों का प्रचुर मात्रा में चित्रण हुआ है।"[7]

मनुष्य को मृत्यु का डर सबसे अधिक लगता है। 'लोकजीवन में व्याप्त अंधविश्वासों के पीछे मुख्य कारण मृत्यु का भय ही है। लोकजीवन में व्याप्त अंधविश्वासों को देखते हुए कहा जा सकता है कि लोक जीवन अँधविश्वासों का घर है।'[8] भूत-प्रेतों का भय अशिक्षित दलित समाज में बहुत गहरे तक व्याप्त है। मृत व्यक्ति भूत कैसे बनता है, शुद्ध बाबा नामक भूत के प्रसंग में इसका उल्लेख तुलसीराम ने किया है-"उनके पोखरे पर स्थित एक बड़े नीम के पेड़ से कुछ वर्ष पूर्व शुद्ध नामक उन्हीं के गाँव के एक दलित दतुवन तोड़ते हुए गिरकर मर गए थे। अत हमारे क्षेत्र में उन्हें पोखरे का सबसे खतरनाक भूत घोषित कर दिया गया था। अक्सर लोग निचंट दोपहरी में अकेले पोखरे पर जाने से बहुत डरते थे।"[9]

दलित समाज जीवन की अनेक मान्यताओं का आलेखन तुलसीराम ने 'मुर्दहिया' में किया है। गाँव-जवार में जादू-टोना करना आम बात थी। जादू-टोना को दूर करने के लिए, उसे निष्प्रभावी बनाने के लिए ओझाओं-तांत्रिकों से पूजा कराने की परम्परा थी। असल बात तो यह थी कि उसमें लोगों का पूर्ण विश्वास होता था और वे ठीक भी हो जाते थे। विधि के बहाने सूअर, बकरे और मुर्गे की बलि देनी पड़ती थी। मुर्दहिया में जादू-टोना आदि से संबंधित कई प्रसंग है। जादू टोना के अंधविश्वास के बारे में तुलसीराम ने लिखा है-"हमारे गाँव की औरतें अक्सर कहा करती थी कि कलकत्ता में बंगाली औरतें बाहरी लोगों को जादू द्वारा वश में करके भेड़ा-बकरा बनाकर रख लेती है।"[10] तुलसीराम का इस प्रकारे के टोटकों में विश्वास नहीं था। वे इस प्रकार के टोटकों के प्रति आशंका व्यक्त करते थे, जो शिक्षा का ही कमाल था। किंतु वे घोर अंधविश्वासी माहौल के कारण उसका प्रतिरोध नहीं कर पाते थे। सिर्फ दलित समाज में ही नहीं बल्कि अन्य वर्ग के लोगों की भी यही स्थिति थी। तुलसीराम ने अपनी माँ के द्वारा किए गए टोटके को याद करते हुए लिखा है-"उसी समय मेरी माँ को रात में दिखाई देना बहुत कम हो गया। अत: टोटका स्वरूप वह रात के अँधेरे में सरसों के तेल से मिट्टी की ढकनी में कपास की बाती जलाकर यूं ही कुछ ढूंढ़ने निकल पड़ती थी। कौतुहलवश किसी ने पूछ लिया कि क्या ढूंढ़ रही है, कुछ खो गया है क्या? तो वह तुरंत घर में यह कहते हुए वापस आ जाती थी कि वह 'रतौन्ही' ढूंढ़ रही थी। रतौन्ही आँख की बीमारी होती थी जिसके चलते रात में दिखाई देना कम हो जाता था। गाँव में सबका विश्वास था कि दीया-बाती जलाकर रतौन्ही ढूंढ़ते हुए किसी के द्वारा टोक दिए जाने से वह टोटका सफल हो जाता है और रोगी को दिखाई देने लगता है। मेरी माँ भी दावा करने लगी कि इसी टोटके से वह ठीक हो गई। मुझे टोटकों के प्रति आशंका तो होती थी, किंतु घोर अंधविश्वासी माहौल में कोई प्रतिरोध नहीं कर पाता था।"[11]

'मुर्दहिया' में अनेक ऐसे पात्र है, जो हमारे मानसपटल पर अपनी विशिष्ट छाप छोड़ते हैं। लोक जीवन के ये पात्र इतने सजीव है, जिसे हम क्षण भर के लिए भी बिसार नहीं सकते। ऐसा ही एक पात्र हिंगुहारा का था जो हिंग बेचने गाँव में आता था और घर-घर जाकर पैसा मांगता था। उसका पैसा मांगने का तरीका औरों से अलग था । गाँव में जिस घर के सामने पहुँचता, उस घर के सदस्य का नाम पुकार कर गाते हुए पैसा मांगता। इसी तरह साल में एक बार गाँव में आने वाले सारंगी बजाकर भजन गाते गाँव-गाँव भीख माँने वाले गेरुएधारी बाबा की लोकप्रियता की चर्चा है। इसी प्रकार जोगी बाबा का भी अपना विशिष्ट महत्व था। जोगी बाबा का नाम रामजीत था, किंतु लोग उन्हें जोगी बाबा के रूप में जानते थे। वे भूत पूजक थे। उनकी सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि उनके सामने जिस किसी भी व्यक्ति के मुँह से जो भी पहला शब्द निकलता था, वे उसी शब्द से तीन स्तर वाली कविता तत्काल बनाकर विचित्र शैली में गाने लगते थे। जैसे किसी के मुँह से 'दवा' शब्द निकला तो जोगी बाबा गाते :

"जइसन कहत बाड़ा दावा,

वइसन चलत बाड़ी हावा

बड़ ससतिया सहबा राम

बड़ ससतिया सहबा राम।"

इस प्रकार जोगीबाबा हाजिरजवाब काव्य की रचना करने वाले प्रसिद्ध कवि थे। वे कभी गद्य में बात नहीं करते थे। उनके जैसा कवि सारी दुनिया में न कोई हुआ है और न होगा।।

लेखक ने इसी क्रम में जोगी बाबा की तरह एक अन्य शैली वाला व्यक्ति बंकिया डोम का जिक्र किया है। उसका परिवार पेशे से बांस के फट्ठे चीर कर टोकरी, चंगेरी, डाल, मौनी, कुरुई, छिट्टा, दउरी आदि बनाकर बाज़ार में बेचता था। वह 'सिंघा' नामक वाद्य बजाने में अद्वितीय था। उसके सिंघा की युद्धोन्मादी ध्वनी सुनकर लोगों को पता चल जाता था कि बंकिया डोम को या तो किसी ने भूखा रखा है या किसी ने खूब खिलाया है। 'मुर्दहिया' में लोक जीवन के ऐसे कई चरित्रों की भरमार है, जिनसे दु:खद और त्रासद जीवन जीवंत हो उठा है। 'मुर्दहिया' में और भी ऐसे कई पात्र हैं- जैसे पटहारा, जो शीशा कंघी, सूई, डोरा, टिकुली तथा मीसी बेचने गाँव में आते थे। ये सभी कुछ न कुछ अजीब स्वरों में गाते हुए घरघुमनी करते हुए अपना सामान बेचते थे, अत: इन सबका अपना-अपना एक व्यापारिक संगीत तथा लय था।

तुलसीराम ने 'मुर्दहिया' में दलित लोक जीवन के अनेक रंग बिखेरे है। इन रंगो में कुछ देर के लिए ही सही, हमारे मन को डूबोकर ही दलित समाज के लोक जीवन को हम जान पाएंगे। इन रंगों में हमारे मन को रंगे बिना 'मुर्दहिया' को नहीं समझा जा सकता। दलित लोक जीवन में परम्पराओं की शुरूआत भी अजीब ढंग से होती थी। लेखक ने बड़े मनोयोग से दलित समाज में प्रस्थापित होनेवाली शास्त्रार्थ की परम्परा का वर्णन किया है। दलित बस्ती में शादियाँ होती थी तो उसमें ब्राह्मणों की भाँति शास्त्रार्थ करने की परम्परा नहीं थी। क्योंकि दलितों में कोई पढ़ा-लिखा नहीं था। शास्त्रार्थ करने की परम्परा की शुरूआत कैसे हुई इसका रोचक वर्णन करते हुए लेखक ने लिखा है-"उन दिनों हमारे गाँव के ब्राह्मणों की शादियों में एक शास्त्रार्थ की परम्परा थी। शादी के दूसरे दिन बरातियों द्वारा मजलिस सजाई जाती थी। यह कार्य अक्सर दोपहर बाद समपन्न होता था। मजलिस के दौरान घराती-बराती आपस में तरह-तरह के सवाल-जवाब करते रहते थे। इन सवालों में धार्मिक सवाल ज्यादातर होते थे । चूँकि आठवां दर्जा पास होते-होते मैं गाँव में काफी चर्चित हो चुका था, इसलिए दलित बस्ती के लोग कहने लगे कि अब गाँव में बरात आने पर ब्राह्मणों की ही तरह दलितों को भी शास्त्रार्थ करना चाहिए। दलित बस्ती में यह एक नई परम्परा स्थापित होने वाली थी।"[12]

भीषण अकाल के बाद गाँव में अत्यंत खुशहाली का वातावरण छाने लगा था, क्योंकि दो साल बाद घनघोर बारिश हुई थी। बारिश होने से खेतों में देखते ही देखते धान की फसलें लहलहा उठीं थी। अकाल का दौर समाप्त होते ही बाढ़ के कारण ताल-पोखरे, नदी-नाले, डबरा-डबरी और धान के कियारे मछलियों से पट गए थे, जिससे दलितों की भुखमरी कुछ दिनों के लिए दूर हो जाती है। सावन आते ही गाँव का परिवेश और अधिक आह्लादक हो जाता था। दु:ख के बाद सुख आता ही है, लेखक के ही शब्दों में- "गाँव के दलित मजदूर और मजदूरिनें लोकगीतों की धुन पर झूल-झूलकर दिन भर काम से मिली थकान को हवा में उड़ाने लगीं। इसी बीच घुमंतू नटों की गाँव के बाहर सिरकिया भी गड़ने लगी। ये सारी बरसाती गतिविधियाँ पिछले दो साल अकाल के दौरान एकदम बंद हो गई थी। किंतु सन् 1959 के बरसाती दिनों में इनकी वापसी से हमारी दलित बस्ती जीवंत हो उठी थी।"[13]

तुलसीराम ने 'मुर्दहिया' में लोक प्रचलित लोकगीतों का बहुत सुंदर आलेखन किया है। इन लोक-गीतों में सामाजिक कुरीतियों पर लोक-शैली में तरह-तरह के व्यंग्य किये गए हैं, जिससे लोकगीत बहुत मार्मिक बन पड़े हैं। बाल-विवाह जैसी कुरीतियों पर तीखी टिप्पणियां, जो नंगी सच्चाइयों का पर्दाफाश कर देने वाली होता थीं, जिसे हरवाहे नर्तक गा-गाकर अपनी नृत्य कला को बेहद आकर्षक बना देते। शादी-विवाहों के अवसर पर भांड़ मंड़लियों या नौटंकियों का आयोजन दलितों के बीच एक आम बात थी। इन मंड़लियों या नौटंकियों में नाटक से लेकर गायक, तबलची, अभिनेता, स्वांग आदि कोई प्रोफेशनल व्यक्ति नहीं थे, वे अधपेटवा गुजारा करने वाले हरवाहे हुआ करते थे। लेखक ने पैनी दृष्टि से इन कलाकोरों के कौशल को उकेरा है। गाँवों में आज भी ऐसे कलाकारों की कमी नहीं है। उनकी यह कला ही तो उनके हर मर्ज की दवा होती थी, जिसके सहारे उनकी जिंदगी की गाड़ी सरकती जा रही होती है। तुलसीराम ने इन कलाकारों को बहुत करीब से देखा ही नहीं बल्कि उनको पहचाना भी है। इन कलाकारों की प्रस्तुति से दलितों का सदियों पुराना दु:ख-दर्द कुछ समय के लिए छू-मंतर हो जाता था। लैला-मजनूं, शीरी-फरहाद, सुलताना डाकू आदि जैसे कई नाटकों का मंचन लोगों को प्रभावित करता रहा है। तुलसीराम का पूर्ण विश्वास था कि दलित समाज ही अलौकिक कला एवं संगीत का संरक्षक रहा है। इस संदर्भ में उन्होंने लिखा है-"दीवार पर गेरु तथा हल्दी से जो पेंटिंग की जाती थी, उसे कोहबर कहा जाता था। ऐसी कलाकृतियों में केले का पेड़, हाथी, घोड़े, औरत, धनुष-बाण आदि शामिल हो जाते थे। इन कलाकृतियों को 'कोहबर' लिखना कहा जाता था। चिट्ठी की तरह कोहबर लिखने के लिए भी गाँव वाले मेरी ही तलाश में रहते थे। अत: में जब तक गाँव में रहा, शादी किसी के घर हो, कोहबर मैं ही लिखता रहा। एक विशेष बात यह थी कि इन कोहबर कलाकृतियों का प्रचलन सवर्ण जातियों में नहीं था। इन परम्पराओं से जाहिर होता है कि सदियों से चला आ रहा दलितों का यह बहिष्कृत समुदाय एक अलौकिक कला एवं संगीत का न सिर्फ संरक्षक रहा, बल्कि उसका वाहक भी है।"[14] अशिक्षा के कारण लिपि ज्ञान न होने के कारण दलित समाज के लोग भारत के पहले व्यक्ति थे जिन्होंने अपनी कलाकृतियों के लिए कोहबर पेंटिग का सहारा लिया।

अकाल के दुर्दिन समाप्त होते ही दलित बस्तियों का तरह-तरह की लोककलाओं से गुलज़ार हो जाना जीवंतता का प्रतीक है। तुलसीराम का स्पष्ट मानना था कि सारी लोककलाएँ दलितों के बीच केन्द्रित थीं। सवर्ण जातियों में किसी तरह की लोककला मौजूद नहीं थी। साथ ही उन्होंने यह भी बताया कि इन कलाओं में चमरउवा नाच या गाना, धोबियउवा नाच, कहैरउवा धुन, गोडइता नाच के साथ जाति सूचक विशेषण जुड़ जाने से कालांतर में ये कलाएँ उस जाति के नाम से ही प्रसिद्ध हो गई।

'मुर्दहिया' में तुलसीराम ने दलित लोकजीवन के ऐसे मार्मिक चित्र खिचे हैं, जो हमारा ध्यान तो आकर्षित करते ही है, कुछ देर के लिए हमें भी सराबोर कर देते हैं। ये सारे चित्र अविस्मरणीय बन पड़े हैं। 'मुर्दहिया' में लोकजीवन अपनी समग्रता के साथ विविध आयामों को लेकर प्रस्तुत हुआ है। 'मुर्दहिया' के संदर्भ में विश्वनाथ त्रिपाठी ने उचित ही लिखा है कि-" 'मुर्दहिया' अपनी संवेदना, शिल्प में एक सर्जनात्मक कृति है। वह इतिहास, समाजशास्त्र, उपन्यास तो है ही, अनेक स्थलों पर सरस काव्य का भी आस्वाद प्रदान करती है। इस कृति की सबसे बड़ी शक्ति लोकजीवन की बहुविध जीवंतता है। ऐसी जीवंतता जो अपनी निरक्षरता, अभाव ग्रस्तता,

अंधविश्वासता, पर लोकभय, वर्णाश्रम व्यवस्था से कातर है, लेकिन प्रकृति से सहवास, पारम्परिक उत्सव. पर्वों, लोकगीतों, उक्तियों से स्पंदित भी है।"[15]

निष्कर्ष :

प्रत्येक कृति का अपना निजी सौंदर्य होता है, जो उस कृति को दीर्घकालीन समय के लिए प्रासंगिक बनाता है। इस रूप में देखा जाए तो 'मुर्दहिया' में लोकजीवन का गहन सौंदर्यबोध है। लेखक तुलसीराम ने लोक-जीवन के जो चित्र उकेरे हैं; वे दलित जीवन के सौंदर्य प्रतीक है, इससे इनकार नहीं किया जा सकता।

संदर्भ सूची :

1. डॉ. तुलसीराम, पहला संस्करण 2010, मुर्दहिया, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, पृ. 5
2. वहीं, पृ.
3. वहीं, पृ. 9
4. वहीं, पृ. 10
5. वहीं, पृ. 11-12
6. वहीं, पृ. 12-13
7. संपादक श्रीधरम, पहला संस्करण 2016, तुलसीराम व्यक्तित्व और कृतित्व, अंतिका प्रकाशन, ग़ाज़ियाबाद- (उ.प्र), पृ.144
8. वहीं, पृ.145
9. डॉ. तुलसीराम, पहला संस्करण 2010, मुर्दहिया, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, पृ. 94
10. वहीं, पृ. 109
11. वहीं, पृ.112
12. वहीं, पृ.137
13. वहीं, पृ. 103
14. वहीं, पृ. 105
15. संपादक श्रीधरम, पहला संस्करण 2016, तुलसीराम व्यक्तित्व और कृतित्व, अंतिका प्रकाशन, ग़ाज़ियाबाद- (उ.प्र), पृ. 107-108